

अध्याय बावनवाँ

॥श्री गणेशाय नमः॥ श्री सरस्वत्यै नमः॥ श्री सिद्धारूढाय नमः॥

"हमेशा तृप्त तथा उदार होने वाले गुरुसिद्धनाथजी, आपकी जयजयकार हो; अनंत तथा हमेशा मुक्त होकर अनगिनत गुण होने वाले ईश्वर, आप समस्त जनों के लिए वंदनीय होते हुए भक्तों के मन का ताप हरण करने वाले हैं; आपके गुणों का बयान करते समय, मेरा मन प्रेम से भर जाने दीजिए तथा मुझे आप के चरणों में स्थान दीजिए।"

श्रीसिद्धारूढ़ स्वामीजी आप स्वयं प्रकाश होकर, आपके तेज से सारे ब्रह्मांडों को उजागर करते हैं, आप अनादि तथा अनंत होकर अविनाशी हैं; आप अक्षय ज्ञान भंडार हैं। हालाँकि, हमेशा स्वरूप (आत्मा) में स्थित रहकर सारा त्रिभुवन पूर्ण रूप से व्याप्त किए हुए आप, भक्तों के लिए एक मनुष्य के अवतार में प्रकट हुए हैं। जिनका मन संसार से ऊब गया है, वे सारी विषयोपभोगों की कामनाएँ त्यागकर आप की शरण में आते हैं तथा विरक्ति के फूल आप को अर्पण करते हैं। पिछले अध्याय में खासगत की वैराग्य पूर्ण स्थिति बयान करने वाली कहानी सुनाई; यह वैराग्य स्थिति विषयोपभोगों की प्रवृत्तियों को छेदकर साधक को ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर उन्नति करने में सहायक होती है। इस प्रकार के वैराग्य को अपरा वैराग्य कहते हैं, जिस में साधक विषयोपभोगों से भयभीत होकर रहता है, अब मैं परा वैराग्य स्थिति का बयान करता हूँ। हालाँकि, विषयोपभोगों से साधक दूर हो भी गया होगा, फिर भी आज तक उसने भोगे हुए विषयोपभोगों के सुख का मन पर गहरा परिणाम होकर, उसका भोगों के संस्कारों में रूपान्तर हुआ रहता है। ऐसे भोग संस्कार मन से पूर्ण रूप से मिट न जाए तो साधक का अधःपतन होने का भय होता है। जीवन भर विरक्ति साध्य करने के बावजूद भी अगर गुरु की उपासना तथा सत्संग न करने से, ऐसी विरक्ति निष्फल ही हुई, ऐसा कहना पड़ेगा। इसलिए, वैराग्य सार्थ होने के लिए कुछ उपाय करने चाहिए, जिससे मुमुक्षु का मन पूर्ण रूप से निर्विकार (विषयोपभोगों की कामनाओं से मुक्त) होकर उसे विषयोपभोगों की कामनाओं के प्रति कोई भय नहीं रहना चाहिए। श्रोतागण, इस विषय में श्रीसिद्धारूढ़ स्वामीजी

और निर्वाणप्पा इन दोनों में जो कुछ संवाद हुआ, वह मैं आप को बयान करता हूँ, आप उसे ध्यान से सुनिए।

कर्नाटक राज्य के उमरगोल गाँव में एक अत्यंत विरक्त तथा सात्विक गुणों से परिपूर्ण निर्वाणप्पा नाम का एक मनुष्य रहता था। बचपन से ही वह विरक्त तथा स्नेहपूर्ण था। हालाँकि उसने बहुत योगाभ्यास किया था, फिर भी उसके मन को चैन (समाधान) नहीं था, तब गुरु कृपा के बिना चैन नहीं मिलता यह बात वह समझ गया। जब वह सोलह वर्ष का था, तब उसने हुबली के सिद्धारूढ़ स्वामीजी की महिमा सुनी और तुरंत वह हुबली जाकर सिद्धारूढ़जी से मिला। सिद्धाश्रम में प्रवेश करते ही उसने सतगुरुजी के चरण छू लिए, परंतु कुछ भी बोल न पाने के कारण वह केवल हाथ जोड़कर खड़ा रहा। सतगुरुजी ने उसकी ओर देखा, उसकी अभिमानरहित स्थिति तथा कुछ अन्य लक्षण देखकर वे मन ही मन बोले की यह सचमुच ही अधिकारी व्यक्ति है। उसपर उन्होंने उसे पूछा, "हे सद्भक्त, किस कार्य से तुम यहाँ तक आए हो, मुझे बताओ।" उसने कहा, "हे दयानिधि सतगुरुनाथजी, आप सर्वज्ञ हैं तथा मेरी कहानी पूर्ण रूप से जानते हैं। इस संसार के दुख तथा पीड़ा मुझ से सहे नहीं जाते; क्यों हम उन्हें व्यर्थ ही भोग लें? मुझे ऐसा लगता है की जो सतगुरुजी की शरण में जाता है, उसके दुख तथा संकट भस्म हो जाते हैं, तो फिर किसलिये इस सांसारिक जाल में जाकर फँसें? और अंत में कुछ भी साध्य किए बिना एक दिन मर जाए? आप तो सर्वशक्तिमान हैं ही।" निर्वाणप्पा के ये शब्द सुनकर मधुर शब्दों में सतगुरुजी ने कहा, "अगर तुम चाहो तो, इस मठ में हमारे साथ रह सकते हो। प्रतिदिन वेदांत पर प्रवचन तथा चर्चा सुनकर तुम्हारे मन का ताप पूर्ण रूप से नष्ट होगा।" यह सुनकर निर्वाणप्पा को बहुत चैन आया। वह मन ही मन बोला की सतगुरुजी ने मेरे मन की स्थिति पूर्ण रूप से समझ ली तथा मेरे मन का भय दूर करके मुझे अभयदान दिया। उसके उपरांत वह हर्ष से मठ में रहने लगा। प्रतिदिन सतगुरुजी के मुख से वेदांत शास्त्र सुनने के कारण उसके मन की तप्त वृत्तियाँ शांत हो गयीं। वेदांतशास्त्र सुनने के पश्चात वह एकांत पूर्ण स्थान ढूँढ़कर, किसी और के साथ संपर्क किये बिना, गुरुजी के शब्दों पर चिंतन मनन करते हुए निजानंद में बैठा रहता था। वह बड़े आदर के

साथ सतगुरुजी की सेवा करता था; उसके मन में सभी प्राणियों के प्रति दया थी, इतना ही नहीं निर्जीव वस्तुओं को भी कष्ट न पहुँचाने तक वह मन से दयालु था। मन में आदरयुक्त भय तथा भक्ति होने वाले निर्वाणप्पा ने एक दिन दीन होकर वंदन करके सतगुरुजी से पूछा, "हे दीनदयाल सतगुरुनाथजी, आपके संगती में रहकर मुझे बहुत लाभ हुआ, मेरा इस संसार से होने वाला ताप पूर्ण रूप से कम हो गया। परंतु मन में एक संदेह रह गया है। अगर आप कृपा करके आज्ञा दें, तो मैं आपके सामने मेरा संदेह व्यक्त करूँगा।" उसपर भक्तों के हिमायती सिद्धनाथजी ने कहा, "निर्वाणप्पा, तुम्हारे मन में जो संदेह है, उसे निर्भयता पूर्वक तुम अभी मुझे बता दो। अगर मैं तुम्हारे संदेह का निवारण कर पाया, तो मैं तुम्हारा संदेह दूर करूँगा।"

उसपर मन में ढाढ़स बाँधकर निर्वाणप्पा विनम्रता पूर्वक बोला, "हे सतगुरुदेव, मन में स्थित सत्व, रज तथा तम इन गुणों का विनाश कैसे होता है? इस स्थूल शरीर का अभिमान तथा विषयोपभोग छोड़ने के बावजूद भी मन के गहराई में तीव्र वासनाएँ होने के कारण मन विकारों के वश में हो जाता है। त्रिगुणों के (अस्तित्व) कारण, विषयोपभोगों की वस्तुएँ देखने से मन में विविध प्रकार की अच्छी बुरी भावनाएँ जाग उठती हैं तथा ये भावनाएँ मन के गहराई तक पहुँचकर गड़ जाती हैं। उसके उपरांत विषयोपभोगों की वस्तुएँ सामने न होने के बावजूद भी मन में गड़ी हुई ये भावनाएँ साधक के लिए पीड़ा निर्माण करती हैं। उससे मन चंचल होकर एक भी विचार मन में स्थिर नहीं रहता; परिणामरूप से मन हर पल दुखी हो जाता है। अगर हम चाहते हैं की अपना यह मन त्रिगुणों के चंगुल फँसने न देकर निर्गुण स्थिति में रहें, तो उसके लिए कौन सा उपाय करना चाहिए यह मुझे कृपा करके बताईए।" उसने विनम्रता पूर्वक पूछे हुए ये प्रश्न सुनकर सिद्धदयाघन आनंदित हुए और बोले, "निर्वाणप्पा, ये सब तुम पूछ रहे हो, इसलिए मैं कहता हूँ की तुम एक अधिकारी व्यक्ति हो। तुम्हारा अपरा वैराग्य स्थिर है, अब परा वैराग्य क्या होता है, यह तुम समझ लो, ताकि उस वैराग्य को प्राप्त करने से निर्विकार आत्मा का रूप तुम देख पाओगे। 'मैं', 'मेरा/मेरी' ये तथा ऐसी सारी वस्तुएँ/बातें आत्मा के लिए बंधनकारी हैं, अन्यथा आत्मा हमेशा मुक्त ही होती है। उसी प्रकार, हालाँकि, सत्व, रज

और तम ये त्रिगुण मन के गहराई अथवा मूल स्वभाव में ही होते हैं, फिर भी मोक्ष प्राप्ति की कामना करने वाले के लिए बंधनकारी होते हैं। जीवात्मा का, आत्मा का स्वरूप न समझने के कारण, स्वयं को (आत्मा न समझते हुए) शरीर समझना यही आत्मा को मारने जैसा है। पंचतत्त्वों से बने हुए इंद्रियों की धाँधली में पड़कर तथा विषयोपभोगों की कामनाओं में तल्लीन होकर जीवात्मा भ्रांति में पड़ता है और निर्बल होता है। विषयोपभोग भोगकर क्रोध तथा व्देष बढ़ जाने से जीवात्मा के बंधन अधिक मजबूत होते हैं; विषयभोग भोगने से वासनाएँ अधिक बढ़ जाती हैं तथा प्रयत्न करने के बावजूद भी जीवात्मा को उनसे छुटकारा नहीं मिलता। इस प्रकार अनेक जन्मों में विषयोपभोग भोगकर, उनसे दुख मिलने के बावजूद भी उनका त्याग न करने के कारण, बार बार अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अंत में सौभाग्य से ऐसे जीवात्मा को सत्संग का लाभ होता है। उस समय सत्संग में जीवात्मा सुनता है की विषयोपभोगों से मिलने वाले सुख से दूसरे प्रकार का सुख श्रेष्ठ है; उसके पश्चात उस दूसरे प्रकार के श्रेष्ठ सुख के लिए वह विषयोपभोगों से मिलने वाले सुख का त्याग करता है। दीर्घ काल तक विषयोपभोगों से मिलने वाले सुख का अनुभव लिया हुआ जीवात्मा निश्चित रूप से इतना तो समझ जाता है की विषयोपभोगों से मिलने वाले सुख का अंत केवल घोर दुख तथा पीड़ा ही है। परंतु यह सच होने के बावजूद भी, जीवात्मा को आत्मसुख (आत्मज्ञान) को कोई भी अनुभव प्राप्त हुआ नहीं रहता। अनेक जन्मों में मिले हुए विविध दुखों का स्मरण होकर जीवात्मा विषयोपभोगों का पूर्ण रूप से त्याग करता है, जिससे प्रत्यक्ष रूप से विषयोपभोग लेना बंद हो जाता है और जीवात्मा को चैन आता है। सत् शिष्य निर्वाणप्पा, ज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर तुम्हारी यात्रा यहाँ तक हुई है, क्योंकि तुमने सारी मोह ममता तथा विषयोपभोगों का पूर्ण रूप से त्याग किया है, परंतु अनेक जन्मों में मन पर हुए विषयोपभोगों के संस्कार इतनी शीघ्रता से नहीं मिटते, संस्कारों का बीज इतनी आसानी से नष्ट नहीं होता तथा उन्हें मिटाने के लिए किए प्रयत्न भी व्यर्थ हो जाते हैं। जब जीवात्मा को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, तभी वासनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट होती हैं। वासनाएँ नष्ट होने से मन पर हुए विषयोपभोगों के संस्कारों का भी विनाश होकर, गुरु

कृपा से जीवात्मा का बंधन पूर्ण रूप से टूट जाता है।" ये सतगुरुजी के अमूल्य तथा अर्थपूर्ण शब्द सुनकर निर्वाणप्पा का मन आनंद सागर में डभकने लगा। उसपर उसने गुरुदेव से पूछा, " ऐसा अमोघ आत्मज्ञान मुझे कौन सी साधना करने से प्राप्त होगा? कृपा करके मेरे लिए आत्मज्ञान के स्वरूप का बारीकी से विवरण कीजिए।"

उसपर सतगुरुदेव ने कहा, "सद् शिष्य सुन, मैं ऐसे बोधयुक्त शब्द तुम्हें सुनाने वाला हूँ, जिनसे वासनाओं के पुराने संस्कार तो मिट जाएँगे ही तथा आसानी से आत्मज्ञान भी प्राप्त होगा। असल में माया तथा गुण ये रूप तथा नाम (वस्तु और व्यक्तिओं के) इन से कल्पित किए होने के कारण, ये दोनों केवल मृगतृष्णा के समान भासमान होते हैं, परंतु उनमें सत्य का अल्प भी अंश नहीं होता। ये सब जानने वाले 'तुम' सारे विकारों में रहकर भी निर्विकार होने वाले 'तुम', केवल अशरीरी (शरीर न होने वाला) रूप हो, यही तुम्हारा सत्य स्वरूप है। जागृति, सपना तथा सुषुप्ति इन तीनों स्थितियों का अनुभव जिसे होता है, वरन जो इन तीनों स्थितियों को साक्षी रूप से देखती है, वही आत्मा तुम हो, यह निश्चित रूप से समझ लो। जिसके मन में 'मैं, मेरा/मेरी' इस प्रकार के विचार होते हैं, उसका अभिमान जागृत रहता है। परंतु बारीकी से देखा जाए, तो कर्ता और भोक्ता आत्मा ही है, वही सपने में भी सामर्थ्य पूर्ण होती है। प्राप्त करने का लक्ष्य भिन्न होकर प्राप्त करने वाला 'मैं' भिन्न है, इस प्रकार सोचकर जो उपासना करता है, वह केवल एक अभिमानी विद्वान होकर अज्ञान की गहरी नींद सो रहा है। कुलमिलाकर, यह जगत, सामर्थ्य तथा विद्वत्ता ये तीनों भी 'तुम' (आत्मा) ही हो, यह समझ लो; ब्रह्म रूप हुई तुम्हारी आत्मा इन तीनों की साक्षी है। जब तक जागृति, सपना, निद्रा और अहंकार इनका अल्पांश से ही क्यों न हो, अगर मन में स्मरण होता रहता है, तब तक अज्ञान शेष है और आत्मज्ञान नहीं हुआ है, यह निश्चित रूप से समझ लो। इसलिए, ओ मेरे शिष्य रत्न, आत्मज्ञान के लक्षण तुम्हें बयान करता हूँ, ताकि मैं जो कुछ भी बता रहा हूँ, उसका मूल कारण तुम्हारे मन पर अंकित हो जाएगा।

जिसे आत्मज्ञान हुआ रहता है, उसे लगता है की, 'इस जगत में आज तक मैंने जो कुछ भी देखा वह एक सपने के समान लग रहा है, तो फिर वह सत्य कैसे होगा? वह सत्य साबित हो, ऐसा मेरे पास कुछ भी नहीं है; मैं भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्यकाल इन तीनों काल (समय) में विरक्त होकर अकेला ही हूँ, अन्य सारी वस्तुएँ केवल झूठ अथवा भासमान हैं। अगर एकाध रूप तथा नाम धारण की हुई वस्तु दिखाई पड़ी (भासमान हुई), तो पूर्ण रूप से मैं ही वह वस्तु हो जाता हूँ। मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है, यह मैं बिना प्रयास किए जानता हूँ। जिस प्रकार, इस जगत में बाँझ स्त्री के पुत्र पैदा हुआ किसी ने भी देखा नहीं, उसी प्रकार व्दैत भावना का पल भर भी स्मरण हुआ, तो भी मेरे मन में उसके लिए कोई भी स्थान नहीं है। इसलिए, जगत मुझे कभी भी दिखाई (भासमान) नहीं पड़ा; पत्नी, संतान ये केवल कल्पित होकर सत्यांश न होने वाले नाम मात्र हैं। अगर मैं आकाश के समान असीम हूँ, तो मेरा यह शरीर यह केवल एक आभास ही है। ऐसी स्थिति होते हुए, न होने वाले शरीर को 'मैं' कहकर संबोधित करना हास्यकर लगता है। मैंने 'कुछ कार्य किया' ऐसा कहूँ, तो मेरे लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इतना ही नहीं, कोई कार्य भी दिखाई नहीं पड़ता, तो फिर मुझे पुरुषार्थ का गुण कैसे लग पाएगा? मैं स्वयं को भोक्ता (भोगने वाला या खाने वाला) कहूँ तो भोजन करने के लिए मुझे मुख ही नहीं है तथा खाने के लिए मेरे सिवाय अन्य वस्तु भी नहीं है, तब मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ? इस प्रकार सभी इंद्रियों के कार्य ये केवल झूठे व्यवहार हैं, ऐसा अनुभव होने के पश्चात, यह जगत पूर्ण रूप से विलक्षण है, ऐसा लगता है। उसे (आत्मज्ञानी व्यक्ति को) भासित होता है कि, 'मैं ही सब कुछ हूँ,' जिस प्रकार मिट्टी ही विविध मटकों के रूप में होती है, उस प्रकार सारा जगत बनकर मैं उसे साक्षी होकर देख रहा हूँ, ऐसा लगता है। इस प्रकार का यह आत्मज्ञान प्राप्त करना हो तो कौन सा उपाय करना चाहिए, वह मैं तुम्हें बयान करता हूँ। हे शिष्योत्तम, उसके लिए अविरत (दिन रात) नामस्मरण (नाम जपना) करना चाहिए। नाम जपते जपते चित्त शुद्ध होता है, शरीर का अभिमान नष्ट होता है तथा साधना करने से चित्त स्थिर होता है और एकाग्रता बढ़ती है। जो जो वस्तुएँ हम चित्त एकाग्र करके देखते हैं, वे सारी वस्तुएँ हम स्वयं ही हैं ऐसा

दिखता है, इसी को 'सोऽहं' भाव कहते हैं। चारो ओर सोऽहं भाव से देखना चाहिए। इतना ही नहीं अगर मन में बिलकुल सूक्ष्म वस्तु का विचार भी आए, तो उसे भी सोऽहं भाव से ही देखना चाहिए, ताकि इस प्रकार की दृढ़ उपासना से वैदित की भ्रांति नष्ट होकर आत्म स्थिति स्थिर होती है। लक्ष्य वस्तु के बारे में ध्यान करते समय, ध्याता स्वयं ही लक्ष्य बन जाता है, उस समय वृत्ति स्वरूपाकार हुई है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति से लक्ष में आत्मा भासमान होने लगती है। एकांत में जाकर इस तरह से ध्यान करना चाहिए तथा लोगों के बीच होने के बावजूद भी उसपर अवधान होना चाहिए। एक पल भर भी ध्यान खंडित किए बिना चारो ओर सोऽहं भाव से व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार की दृढ़ उपासना करने से हम स्वयं ही आत्मा हैं, ऐसा समझ में आता है, 'मैं शरीर हूँ,' ऐसा कभी भी नहीं लगता, तो फिर वह कैसे सत्य होगा? यही उपासना (साधना) तुम प्रतिदिन करते रहना, सोऽहं भाव से सभी प्राणियों की ओर देखना, इसी सोऽहं भाव के कारण मन की गहराई में स्थित वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और आत्मा दिखाई पड़ती (प्रकट होती) है।" ये सतगुरुजी के अनुभव से प्राप्त अमृततुल्य बोल सुनकर निर्वाणप्पा की वृत्ति एक क्षण आत्माकार हो गयी, फिर पल भर निर्विकल्प समाधि में रहने के उपरांत उसने कहा, "हे सतगुरुनाथजी, आज मैं कृतकृत्य हो गया। मुझ जैसे अनाथ को आप ने ज्ञान बोध देकर मेरी रक्षा की। आप की कृपा से मैं धन्य हो गया।" उसके पश्चात प्रतिदिन निर्वाणप्पा एकांत में बैठकर गुरुदेव के उपदेश पर चिंतन करता था तथा हमेशा वेदांत के श्रवण और अध्ययन में ही तल्लीन रहता था। उसके पश्चात सतगुरु कृपा से दृढ़ ज्ञान प्राप्त करके वह पूर्ण रूप से आत्मज्ञानी हो गया और उसने वेदांत पर "पंचीकरण" नाम के एक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में, ईश्वर ने आकाश आदि पंचतत्त्वों का मिश्रण मनुष्य के शरीर के निर्माण के लिए किस प्रकार किया है, इसका प्रतिपादन किया है। यह ग्रंथ अत्यंत सुरस होकर उसे पढ़ते ही मुमुक्षुओं को ज्ञान प्राप्ति होती है; यह ग्रंथ पढ़ने से निर्वाणप्पा ने प्राप्त किया हुआ ज्ञान विशेष रूप से ध्यान में आता है। यह अध्याय, सारे अध्यायों में श्रेष्ठ होकर, प्रतिदिन इसे पढ़ने से पढ़ने वाले के सारे भ्रमों का निवारण होकर, सतगुरु कृपा से वह श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करेगा। सिद्धनाथ

सतगुरुजी दयाघन होने के कारण उनके भक्त बिलकुल निश्चिंत होते हैं, क्योंकि सतगुरुजी का चिंतन करने से उन्हें इस जगत में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। अस्तु। जिसका श्रवण करने से सभी पाप भस्म हो जाते हैं, ऐसे इस श्री सिद्धारूढ़ कथामृत का मधुर सा यह बावनवाँ अध्याय श्री शिवदास श्री सिद्धारूढ़ स्वामीजी के चरणों में अर्पण करते हैं। सबका कल्याण हो।

॥ श्री गुरुसिद्धारूढ़चरणारविंदार्पणमस्तु ॥